

ग्यारह वर्ष का समय रामचंद्र शुक्ल

दिन-भर बैठे-बैठे मेरे सिर में पीड़ा उत्पन्न हुई : मैं अपने स्थान से उठा और अपने एक नए एकांतवासी मित्र के यहाँ मैंने जाना विचारा। जाकर मैंने देखा तो वे ध्यान-मग्न सिर नीचा किए हुए कुछ सोच रहे थे। मुझे देखकर कुछ आश्चर्य नहीं हुआ; क्योंकि यह कोई नई बात नहीं थी। उन्हें थोड़े ही दिन पूरब से इस देश में आए हुआ है। नगर में उनसे मेरे सिवा और किसी से विशेष जान-पहिचान नहीं है; और न वह विशेषतः किसी से मिलते-जुलते ही हैं। केवल मुझसे मेरे भाग्य से वे मित्र-भाव रखते हैं। उदास तो वे हर समय रहा करते हैं। कई बेर उनसे मैंने इस उदासीनता का कारण पूछा भी; किंतु मैंने देखा कि उसके प्रकट करने में उन्हें एक प्रकार का दुःख-सा होता है; इसी कारण मैं विशेष पूछताछ नहीं करता।

मैंने पास जाकर कहा, "मित्र! आज तुम बहुत उदास जान पड़ते हो। चलो थोड़ी दूर तक घूम आवें। चित्त बहल जाएगा।"

वे तुरंत खड़े हो गए और कहा, "चलो मित्र, मेरा भी यही जी चाहता है मैं तो तुम्हारे यहाँ जानेवाला था।"

हम दोनों उठे और नगर से पूर्व की ओर का मार्ग लिया। बाग के दोनों ओर की कृषि-सम्पन्न भूमि की शोभा का अनुभव करते और हरियाली के विस्तृत राज्य का अवलोकन करते हम लोग चले। दिन का अधिकांश अभी शेष था; इससे चित्त को स्थिरता थी। पावस की जरावस्था थी; इससे ऊपर से भी किसी प्रकार के अत्याचार की संभावना न थी। प्रस्तुत ऋतु की प्रशंसा भी हम दोनों बीच-बीच में करते जाते थे।

अहा! ऋतुओं में उदारता का अभिमान यही कर सकता है। दीन कृषकों को अन्नदान और सूर्यातप-तप्त पृथिवी को वस्त्रदान देकर यश का भागी यही होता है। इसे तो कवियों की 'कौंसिल' से 'रायबहादुर' की उपाधि मिलनी चाहिए। यद्यपि पावस की युवावस्था का समय नहीं है; किंतु उसके यश की ध्वजा फहरा रही है। स्थान-स्थान पर प्रसन्न-सलिल-पूर्ण ताल यद्यपि उसकी पूर्व उदारता का परिचय दे रहे हैं।

एतादृश भावों की उलझन में पड़कर हम लोगों का ध्यान मार्ग की शुद्धता की ओर न रहा। हम लोग नगर से बहुत दूर निकल गए। देखा तो शनैः-शनैः भूमि में परिवर्तन लक्षित होने लगा; अरुणता-मिश्रित पहाड़ी, रेतीली भूमि, जंगली बेर-मकोय की छोटी-छोटी कण्टकमय झाड़ियाँ दृष्टि के अंतर्गत होने लगीं। अब हम लोगों को जान पड़ा कि हम दक्षिण की ओर झुके जा रहे हैं। संध्या भी हो चली। दिवाकर की डूबती हुई किरणों की अरुण आभा झाड़ियों पर पड़ने लगी। इधर प्राची की ओर

दृष्टि गयीं: देखा तो चंद्रदेव पहिले ही से सिंहासनारूढ़ होकर एक पहाड़ी के पीछे से झाँक रहे थे।

अब हम लोग नहीं कह सकते कि किस स्थान पर हैं। एक पगडण्डी के आश्रय अब तक हम लोग चल रहे थे: जिस पर उगी हुई घास इस बात की शपथ खा के साक्षी दे रही थी कि वर्षों से मनुष्यों के चरण इस ओर नहीं पड़े हैं। कुछ दूर चलकर यह मार्ग भी तृण-सागर में लुप्त हो गया। 'इस समय क्या कर्तव्य है?' चित्त इसी के उत्तर की प्रतीक्षा में लगा। अंत में यह विचार स्थिर हुआ कि किसी खुले स्थान से चारों ओर देखकर यह ज्ञान प्राप्त हो सकता है कि हम लोग अमुक स्थान पर हैं।

दैवात् सम्मुख ही ऊँची पहाड़ी देख पड़ी: उसी को इस कार्य के उपयुक्त स्थान हम लोगों ने विचारा। ज्यों-त्यों करके पहाड़ी के शिखर तक हम लोग गए। ऊपर आते ही भगवती जन्हू-नन्दिनी के दर्शन हुए। नेत्र तो सफल हुए। इतने में चारुहासिनी चंद्रिका भी अट्टहास करके खिल पड़ी। उत्तर-पूर्व की ओर दृष्टि गई। विचित्र दृश्य सम्मुख उपस्थित हुआ। जाहनवी के तट से कुछ अंतर पर नीचे मैदान में: बहुत दूर: गिरे हुए मकानों के ढेर स्वच्छ चंद्रिका में स्पष्ट रूप से दिखाई दिए।

मैं सहसा चौंक पड़ा और ये शब्द मेरे मुख से निकल पड़े: "क्या यह वही खँडहर है जिसके विषय में यहाँ अनेक दंतकथाएँ प्रचलित हैं?" चारों ओर दृष्टि उठाकर देखने से पूर्ण रूप से निश्चय हो गया कि हो न हो: यह वही स्थान है जिसके संबंध में मैंने बहुत कुछ सुना है। मेरे मित्र मेरी ओर ताकने लगे। मैंने संक्षेप में उस खँडहर के विषय में जो कुछ सुना था: उनसे कह सुनाया। हम लोगों के चित्त में कौतूहल की उत्पत्ति हुई: उसको निकट से देखने की प्रबल इच्छा ने मार्गज्ञान की व्यग्रता को हृदय से बहिर्गत कर दिया। उत्तर की ओर उतरना बड़ा दुष्कर प्रतीत हुआ: क्योंकि जंगली वृक्षों और कण्टकमय झाड़ियों से पहाड़ी का वह भाग आच्छादित था। पूर्व की ओर से हम लोग सुगमतापूर्वक नीचे उतरे। यहाँ से खँडहर लगभग डेढ़ मील प्रतीत होता था। हम लोगों ने पैरों को उसी ओर मोड़ा: मार्ग में घुटनों तक उगी हुई घास पग-पग पर बाधा उपस्थित करने लगी: किंतु अधिक विलम्ब तक यह कष्ट हम लोगों को भोगना न पड़ा: क्योंकि आगे चलकर फूटे हुए खपड़ैलों की सिटकियाँ मिलने लगीं: इधर-उधर गिरी हुई दीवारें और मिट्टी के दूह प्रत्यक्ष होने लगे। हम लोगों ने जाना कि अब यहीं से खँडहर का आरंभ है। दीवारों की मिट्टी से स्थान क्रमशः ऊँचा होता जाता था: जिस पर से होकर हम लोग निर्भय जा रहे थे। इस निर्भयता के लिए हम लोग चंद्रमा के प्रकाश के भी अनुगृहीत हैं। सम्मुख ही एक देव मंदिर पर दृष्टि जा पड़ी: जिसका कुछ भाग तो नष्ट हो गया था: किंतु शेष प्रस्तर-विनिर्मित होने के कारण अब तक क्रूर काल के आक्रमण को सहन करता आया था। मंदिर का द्वार ज्यों-का-त्यों खड़ा था। किवाड़ सट गए थे। भीतर भगवान् भवानीपति बैठे निर्जन कैलाश का आनंद ले रहे थे: द्वार पर उनका नंदी बैठा था। मैं तो प्रणाम करके वहाँ से हटा: किंतु देखा तो हमारे मित्र बड़े ध्यान से खड़े हो: उस मंदिर की ओर देख रहे हैं और मन-ही-मन कुछ सोच रहे हैं। मैंने मार्ग में भी कई बेर लक्ष्य किया था कि वे कभी-कभी ठिठक जाते और किसी वस्तु को बड़ी स्थिर दृष्टि से देखने लगते। मैं खड़ा हो गया और पुकारकर मैंने कहा: "कहो मित्र!

क्या है? क्या देख रहे हो?"

मेरी बोली सुनते ही वे झट मेरे पास दौड़ आए और कहा, "कुछ नहीं, यों ही मंदिर देखने लग गया था।" मैंने फिर तो कुछ न पूछा, किंतु अपने मित्र के मुख की ओर देखता जाता था, जिस पर कि विस्मय-युक्त एक अद्भुत भाव लक्षित होता था। इस समय खँडहर के मध्य भाग में हम लोग खड़े थे। मेरा हृदय इस स्थान को इस अवस्था में देख विदीर्ण होने लगा। प्रत्येक वस्तु से उदासी बरस रही थी, इस संसार की अनित्यता की सूचना मिल रही थी। इस करुणोत्पादक दृश्य का प्रभाव मेरे हृदय पर किस सीमा तक हुआ, शब्दों द्वारा अनुभव करना असम्भव है।

कहीं सड़े हुए किवाड़ भूमि पर पड़े प्रचण्ड काल को साष्टांग दण्डवत् कर रहे हैं, जिन घरों में किसी अपरिचित की परछाईं पड़ने से कुल की मर्यादा भंग होती थी, वे भीतर से बाहर तक खुले पड़े हैं। रंग-बिरंगी चूड़ियों के टुकड़े इधर-उधर पड़े काल की महिमा गा रहे हैं। मैंने इनमें से एक को हाथ में उठाया, उठाते ही यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि "वे कोमल हाथ कहाँ हैं जो इन्हें धारण करते थे?"

हा! यही स्थान किसी समय नर-नारियों के आमोद-प्रमोद से पूर्ण रहा होगा और बालकों के कल्लोल की ध्वनि चारों ओर से आती रही होगी, वही आज कराल काल के कठोर दाँतों के तले पिसकर चकनाचूर हो गया है! तृणों से आच्छादित गिरी हुई दीवारें, मिट्टी और ईंटों के ढूह, टूटे-फूटे चौकठे और किवाड़ इधर-उधर पड़े एक स्वर से मानो पुकार के कह रहे थे - 'दिनन को फेर होत, मेरु होत माटी को' प्रत्येक पार्श्व से मानो यही ध्वनि आ रही थी। मेरे हृदय में करुणा का एक समुद्र उमड़ा जिसमें मेरे विचार सब मग्न होने लगे।

मैं एक स्वच्छ शिला पर, जिसका कुछ भाग तो पृथ्वीतल में धँसा था, और शेषांश बाहर था, बैठ गया। मेरे मित्र भी आकर मेरे पास बैठे। मैं तो बैठे-बैठे काल-चक्र की गति पर विचार करने लगा, मेरे मित्र भी किसी विचार ही में डूबे थे, किंतु मैं नहीं कह सकता कि वह क्या था। यह सुंदर स्थान इस शोचनीय और पतित दशा को क्योंकि प्राप्त हुआ, मेरे चित्त में तो यही प्रश्न बार-बार उठने लगा, किंतु उसका संतोषदायक उत्तर प्रदान करने वाला वहाँ कौन था? अनुमान ने यथासाध्य प्रयत्न किया, परंतु कुछ फल न हुआ। माथा घूमने लगा। न जाने कितने और किस-किस प्रकार के विचार मेरे मस्तिष्क से होकर दौड़ गए।

हम लोग अधिक विलम्ब तक इस अवस्था में न रहने पाए। यह क्या? मधुसूदन! यह कौन-सा दृश्य है? जो कुछ देखा, उससे अवाक् रह गया! कुछ दूर पर एक श्वेत वस्तु इसी खँडहर की ओर आती देख पड़ी! मुझे रोमांच हो आया, शरीर काँपने लगा। मैंने अपने मित्र को उस ओर आकर्षित किया और उँगली उठा के दिखाया। परंतु कहीं कुछ न देख पड़ा, मैं स्थापित मूर्ति की भाँति बैठा रहा। पुनः वही दृश्य! अबकी बार ज्योत्स्नालोक में स्पष्ट रूप से हम लोगों ने देखा कि एक श्वेत परिच्छद धारिणी स्त्री एक जल-पात्र लिए खँडहर के एक पार्श्व से होकर दूसरी ओर वेग से निकल गई और

उन्हीं खँडहरों के बीच फिर न जाने कहाँ अंतर्धान हो गई। इस अदृष्टपूर्व व्यापार को देख मेरे मस्तिष्क में पसीना आ गया और कई प्रकार के भ्रम उत्पन्न होने लगे। विधाता! तेरी सृष्टि में न-जाने कितनी अद्भुत अद्भुत वस्तु मनुष्य की सूक्ष्म विचार-दृष्टि से वंचित पड़ी हैं। यद्यपि मैंने इस स्थान विशेष के संबंध में अनेक भयानक वार्ताएँ सुन रखी थीं किंतु मेरे हृदय पर भय का विशेष संचार न हुआ। हम लोगों को प्रेतों पर भी इतना दृढ़ विश्वास न था नहीं तो हम दोनों का एक क्षण भी उस स्थान पर ठहरना दुष्कर हो जाता। रात्रि भी अधिक व्यतीत होती जाती थी। हम दोनों को अब यह चिंता हुई कि यह स्त्री कौन है? इसका उचित परिशोध अवश्य लगाना चाहिए।

हम दोनों अपने स्थान से उठे और जिस ओर वह स्त्री जाती हुई देख पड़ी थी उसी ओर चले। अपने चारों ओर प्रत्येक स्थान को भली प्रकार देखते हम लोग गिरे हुए मकानों के भीतर जा-जा के श्रृंगारों के स्वच्छंद विहार में बाधा डालने लगे। अभी तक तो कुछ ज्ञात न हुआ। यह बात तो हम लोगों के मन में निश्चय हो गई थी कि हो न हो वह स्त्री खँडहर के किसी गुप्त भाग में गई है। गिरी हुई दीवारों की मिट्टी और ईंटों के ढेर से इस समय हम लोग परिवृत्त थे। बाह्य जगत् की कोई वस्तु दृष्टि के अंतर्गत न थी। हम लोगों को जान पड़ता था कि किसी दूसरे संसार में खड़े हैं। वास्तव में खँडहर के एक भयानक भाग में इस समय हम लोग खड़े थे। सामने एक बड़ी ईंटों की दीवार देख पड़ी जो औरों की अपेक्षा अच्छी दशा में थी। इसमें एक खुला हुआ द्वार था। इसी द्वार से हम दोनों ने इसमें प्रवेश किया। भीतर एक विस्तृत आँगन था जिसमें बेर और बबूल के पेड़ स्वच्छन्दतापूर्वक खड़े उस स्थान को मनुष्य-जाति-संबंध से मुक्त सूचित करते थे। इसमें पैर धरते ही मेरे मित्र की दशा कुछ और हो गई और वे चट बोल उठे "मित्र ! मुझे ऐसा जान पड़ता है कि जैसे मैंने इस स्थान को और कभी देखा हो यही नहीं कह सकता कब। प्रत्येक वस्तु यहाँ की पूर्व परिचित-सी जान पड़ती है।" मैं अपने मित्र की ओर ताकने लगा। उन्होंने आगे कुछ न कहा। मेरा चित्त इस स्थान के अनुसंधान करने को मुझे बाध्य करने लगा। इधर-उधर देखा तो एक ओर मिट्टी पड़ते-पड़ते दीवार की ऊँचाई के अर्धभाग तक वह पहुँच गई थी। इस पर से होकर हम दोनों दीवार पर चढ़ गए। दीवार के नीचे दूसरे किनारे में चतुर्दिक वेष्टित एक कोठरी दिखाई दी। मैं इसमें उतरने का यत्न करने लगा। बड़ी सावधानी से एक उभड़ी हुई ईंट पर पैर रखकर हम दोनों नीचे उतर गये। यह कोठरी ऊपर से बिलकुल खुली थी। इसलिए चंद्रमा का प्रकाश इसमें बेरोक-टोक आ रहा था। कोठरी के दाहिनी ओर एक द्वार दिखाई दिया जिसमें एक जीर्ण किवाड़ लगा हुआ था। हम लोगों ने निकट जाकर किवाड़ को पीछे की ओर धीरे से धकेला तो जान पड़ा कि वे भीतर से बंद हैं।

मेरे तो पैर काँपने लगे। पुनः साहस को धारण कर हम लोगों ने किवाड़ के छोटे-छोटे रन्ध्रों से झाँका तो एक प्रशस्त कोठरी देख पड़ी। एक कोने में मंद-मंद एक प्रदीप जल रहा था जिसका प्रकाश द्वार तक न पहुँचता था। यदि प्रदीप उसमें न होता तो अंधकार के अतिरिक्त हम लोग और कुछ न देख पाते।

हम लोग कुछ काल तक स्थिर दृष्टि से उसी ओर देखते रहे। इतने में एक स्त्री की आकृति देख

पड़ी जो हाथ में कई छोटे पात्र लिए उस कोठरी के प्रकाशित भाग में आयी। अब तो किसी प्रकार का संदेह न रहा। एक बेर इच्छा हुई कि किवाड़ खटखटाएँ किंतु कई बातों का विचार करके हम लोग ठहर गये। जिस प्रकार से हम लोग कोठरी में आए थे धीरे-धीरे उसी प्रकार निःशब्द दीवार से होकर फिर आँगन में आए। मेरे मित्र ने कहा, "इसका शोध अवश्य लगाओ कि यह स्त्री कौन है?" अंत में हम दोनों आड़ में इस आशा से कि कदाचित् वह फिर बाहर निकले बैठे रहे। पौन घण्टे के लगभग हम लोग इसी प्रकार बैठे रहे। इतने में वही श्वेतवसनधारिणी स्त्री आँगन में सहसा आकर खड़ी हो गई हम लोगों को यह देखने का समय न मिला कि वह किस ओर से आयी।

उसका अपूर्व सौंदर्य देखकर हम लोग स्तम्भित व चकित रह गए। चंद्रिका में उसके सर्वांग की सुंदरता स्पष्ट जान पड़ती थी। गौर वर्ण शरीर किंचित क्षीण और आभूषणों से सर्वथा रहित मुख उसका यद्यपि उस पर उदासीनता और शोक का स्थायी निवास लक्षित होता था एक अलौकिक प्रशांत कांति से देदीप्यमान हो रहा था। सौम्यता उसके अंग-अंग से प्रदर्शित होती थी। वह साक्षात् देवी जान पड़ती थी।

कुछ काल तक किंकर्तव्यविमूढ होकर स्तब्ध लोचनों से उसी ओर हम लोग देखते रहे अंत में हमने अपने को सँभाला और इसी अवसर को अपने कार्योपयुक्त विचारा। हम लोग अपने स्थान पर से उठे और तुरंत उस देवीरूपिणी के सम्मुख हुए। वह देखते ही वेग से पीछे हटी। मेरे मित्र ने गिड़गिड़ा के कहा, "देवि ! ढिठाई क्षमा करो। मेरे भ्रमों का निवारण करो।" वह स्त्री क्षण भर तक चुप रही फिर स्निग्ध और गंभीर स्वर से बोली, "तुम कौन हो और क्यों मुझे व्यर्थ कष्ट देते हो?" इसका उत्तर ही क्या था? मेरे मित्र ने फिर विनीत भाव से कहा, "देवि! मुझे बड़ा कौतूहल है - दया करके यहाँ का सब रहस्य कहो।

इस पर उसने उदास स्वर से कहा, "तुम हमारा परिचय लेके क्या करोगे? इतना जान लो कि मेरे समान अभागिनी इस समय इस पृथ्वी मण्डल में कोई नहीं है।"

मेरे मित्र से न रहा गया हाथ जोड़कर उन्होंने फिर निवेदन किया, "देवि ! अपने वृत्तान्त से मुझे परिचित करो। इसी हेतु हम लोगों ने इतना साहस किया है। मैं भी तुम्हारे ही समान दुखिया हूँ। मेरा इस संसार में कोई नहीं है।" मैं अपने मित्र का यह भाव देखकर चकित रह गया।

स्त्री ने करुण-स्वर से कहा, "तुम मेरे नेत्रों के सम्मुख भूला-भुलाया मेरा दुःख फिर उपस्थित करने का आग्रह कर रहे हो। अच्छा बैठो।"

मेरे मित्र निकट के एक पत्थर पर बैठ गये। मैं भी उन्हीं के पास जा बैठा। कुछ काल तक सब लोग चुप रहे अंत में वह स्त्री बोली -

"इसके प्रथम कि मैं अपने वृत्तान्त से तुम्हें परिचित करूँ तुम्हें शपथपूर्वक यह प्रतिज्ञा करनी होगी

कि तुम्हारे सिवा यह रहस्य संसार में और किसी के कानों तक न पहुँचे। नहीं तो इस स्थान पर रहना दुष्कर हो जाएगा और आत्महत्या ही मेरे लिए एकमात्र उपाय शेष रह जाएगा।"

हमलोगों के नेत्र गीले हो आये। मेरे मित्र ने कहा, "देवि ! मुझसे तुम किसी प्रकार का भय न करो; ईश्वर मेरा साक्षी है।"

स्त्री ने तब इस प्रकार कहना आरम्भ किया -

"यह खँडहर जो तुम देखते हो आज से 11 वर्ष पूर्व एक सुंदर ग्राम था। अधिकांश ब्राह्मण-क्षत्रियों की इसमें बस्ती थी। यह घर जिसमें हम लोग बैठे हैं चंद्रशेखर मिश्र नामी एक प्रतिष्ठित और कुलीन ब्राह्मण का निवास-स्थान था। घर में उनकी स्त्री और एक पुत्र था। इस पुत्र के सिवा उन्हें और कोई संतान न थी। आज ग्यारह वर्ष हुए कि मेरा विवाह इसी चंद्रशेखर मिश्र के पुत्र के साथ हुआ था।"

इतना सुनते ही मेरे मित्र सहसा चौंक पड़े, "हे परमेश्वर! यह सब स्वप्न है या प्रत्यक्ष?" ये शब्द उनके मुख से निकले ही थे कि उनकी दशा विचित्र हो गयी। उन्होंने अपने को बहुत सँभाला - और फिर सँभलकर बैठे, वह स्त्री उनका यह भाव देखकर विस्मित हुई और उसने पूछा, "क्यों, क्या है?"

मेरे मित्र ने विनीत भाव से उत्तर दिया, "कुछ नहीं, यों ही मुझे एक बात का स्मरण आया। कृपा करके आगे कहो।"

स्त्री ने फिर कहना आरम्भ किया - "मेरे पिता का घर काशी में ... मुहल्ले में था। विवाह के एक वर्ष पश्चात् ही इस ग्राम में एक भयानक दुर्घटना उपस्थित हुई, यहीं से मेरे दुर्दमनीय दुःख का जन्म हुआ। संध्या को सब ग्रामीण अपने-अपने कार्य से निश्चिन्त होकर अपने-अपने घरों को लौटे। बालकों का कोलाहल बंद हुआ। निद्रादेवी ने ग्रामीणों के चिंता-शून्य हृदयों में अपना डेरा जमाया। आधी रात से अधिक बीत चुकी थी; कुत्ते भी थोड़ी देर तक भूँककर अंत में चुप हो रहे थे। प्रकृति निस्तब्ध हुई; सहसा ग्राम में कोलाहल मचा और धमाके के कई शब्द हुए। लोग आँखें मींचते उठे। चारपाई के नीचे पैर देते हैं तो घुटने भर पानी में खड़े!! कोलाहल सुनकर बच्चे भी जागे। एक-दूसरे का नाम ले-लेकर लोग चिल्लाने लगे। अपने-अपने घरों में से लोग बाहर निकलकर खड़े हुए। भगवती जाहनवी को द्वार पर बहते हुए पाया!! भयानक विपत्ति! कोई उपाय नहीं। जल का वेग क्रमशः अधिक बढ़ने लगा। पैर कठिनता से ठहरते थे। फिर दृष्टि उठाकर देखा, जल ही जल दिखाई दिया। एक-एक करके सब सामग्रियाँ बहने लगीं। संयोगवश एक नाव कुछ दूर पर आती देख पड़ी। आशा! आशा!! आशा !!!

"नौका आयी, लोग टूट पड़े और बलपूर्वक चढ़ने का यत्न करने लगे। मल्लाहों ने भारी विपत्ति सम्मुख देखी। नाव पर अधिक बोझ होने के भय से उन्होंने तुरंत अपनी नाव बढ़ा दी। बहुत-से

लोग रह गए। नौका पवनगति से गमन करने लगी। नौका दूसरे किनारे पर लगी। लोग उतरे। चंद्रशेखर मिश्र भी नाव पर से उतरे और अपने पुत्र का नाम लेके पुकारा। कोई उत्तर न मिला। उन्होंने अपने साथ ही उसे नाव पर चढ़ाया था, किंतु भीड़-भाड़ नाव पर अधिक होने के कारण वह उनसे पृथक हो गया था। मिश्रजी बहुत घबराए और तुरंत नाव लेकर लौटे। देखा, बहुत-से लोग रह गए थे; उनसे पूछ-ताछ किया। किसी ने कुछ पता न दिया। निराशा भयंकर रूप धारण करके उनके सामने उपस्थित हुई।"

"संध्या का समय था; मेरे पिता दरवाजे पर बैठे थे। सहसा मिश्र जी घबराए हुए आते देख पड़े। उन्होंने आकर आद्योपरान्त पूर्वोल्लिखित घटना कह सुनाई, और तुरंत उन्मत्त की भाँति वहाँ से चल दिए। लोग पुकारते ही रह गए। वे एक क्षण भी वहाँ न ठहरे। तब से फिर कभी वे दिखाई न दिए। ईश्वर जाने वे कहाँ गये! मेरे पिता भी दत्तचित होकर अनुसंधान करने लगे। उन्होंने सुना कि ग्राम के बहुत-से लोग नाव पर चढ़-चढ़कर इधर-उधर भाग गए हैं। इसलिए उन्हें आशा थी। इस प्रकार ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कई मास व्यतीत हो गए। अब तक वे समाचार की प्रतीक्षा में थे और उन्हें आशा थी; किंतु अब उन्हें चिंता हुई। चंद्रशेखर मिश्र का भी तब से कहीं कुछ समाचार मिला। जहाँ-जहाँ मिश्र जी का संबंध था; मेरे पिता स्वयं गए; किंतु चारों ओर से निराश लौटे; किसी का कुछ अनुसंधान न लगा। एक वर्ष बीता, दो वर्ष बीते, तीसरा वर्ष आरम्भ हुआ। पिता बहुत इधर-उधर दौड़े, अंत में ईश्वर और भाग्य के ऊपर छोड़कर बैठ रहे। तीसरा वर्ष भी व्यतीत हो गया।

"मेरी अवस्था उस समय ¹⁴ वर्ष की हो चुकी थी; अब तक तो मैं निर्बोध बालिका थी। अब क्रमशः मुझे अपनी वास्तविक दशा का ज्ञान होने लगा। मेरा समय भी अहर्निश इसी चिंता में अब व्यतीत होने लगा। शरीर दिन-पर-दिन क्षीण होने लगा। मेरे देवतुल्य पिता ने यह बात जानी। वे सदा मेरे दुःख भुलाने का यत्न करते रहते थे। अपने पास बैठकर रामायण आदि की कथा सुनाया करते थे। पिता अब वृद्ध होने लगे; दिवारात्रि की चिंता ने उन्हें और भी वृद्ध बना दिया। घर के समस्त कार्य-संपादन का भार मेरे बड़े भाई के ऊपर पड़ा। उनकी स्त्री का स्वभाव बड़ा क्रूर था। कुछ दिन तक तो किसी प्रकार चला। अंत में वह मुझसे डाह करने लगी और कष्ट देना प्रारम्भ किया; मैं चुपचाप सब सहन करती थी। धीरे-धीरे आश्वास-वाक्य के स्थान पर वह तीक्ष्ण वचनों से मेरा चित्त अधिक दुःखाने लगी। यदि कभी मैं अपने भाई से निवेदन करती तो वे भी कुछ न बोलते; आनाकानी कर जाते और मेरे पिता की वृद्धावस्था के कारण कुछ नहीं चल सकती थी। मेरे दुःख को समझने वाला वहाँ कोई नहीं देख पड़ता था। मेरी माता का पहिले ही परलोकवास हो चुका था। मुझे अपनी दशा पर बड़ा दुःख हुआ। हा! मेरा स्वामी यदि इस समय होता तो क्या मेरी यही दशा होती? पिता के घर क्या इन्हीं वचनों द्वारा मेरा सत्कार किया जाता। यही सब विचार करके मेरा हृदय फटने लगता था। अब क्रमशः मेरा हृदय मेघाच्छन्न होने लगा। मुझे संसार शून्य दिखाई देने लगा। एकांत में बैठकर मैं अपनी अवस्था पर अश्रुवर्षण करती। उसमें भी यह भय लगा रहता कि कहीं भौजाई न पहुँच जाए। एक दिन उसने मुझे इसी अवस्था में पाया तो तुरंत व्यंग्य-वचनों द्वारा आश्वासन देने

लगी। मेरा शोकार्त हृदय अग्निशिखा की भाँति प्रज्वलित हो उठा; किंतु मौनावलम्बन के सिवा अन्य उपाय ही क्या था? दिन-दिन मुझे यह दुःख असह्य होने लगा। एक रात्रि को मैं उठी। किसी से कुछ न कहा और सूर्योदय के प्रथम ही अपने पिता का गृह मैंने परित्याग किया।

"मैं अब यह नहीं कह सकती कि उस समय मेरा क्या विचार था। मुझे एक बेर अपने पति के स्थान को देखने की लालसा हुई। दुःख और शोक से मेरी दशा उन्मत्त की-सी हो गई थी। संसार में मैंने दृष्टि उठा के देखा तो मुझे और कुछ न दिखलाई दिया। केवल चारों ओर दुःख! सैकड़ों कठिनाइयाँ झेलकर अंत में मैं इस स्थान तक आ पहुँची। उस समय मेरी अवस्था केवल 16 वर्ष की थी। मैंने इस स्थान को उस समय भी प्रायः इसी दशा में पाया था। यहाँ आने पर मुझे कई चिह्न ऐसे मिले जिनसे मुझे यह निश्चय हो गया कि चंद्रशेखर मिश्र का घर यही है। इस स्थान को देखकर मेरे आर्त हृदय पर बड़ा कठोर आघात पहुँचा।"

इतना कहते-कहते हृदय के आवेग ने शब्दों को उसके हृदय ही में बंदी कर रखा; बाहर प्रकट होने न दिया। क्षणिक पर्यंत वह चुप रही; सिर नीचा किए भूमि की ओर देखती रही। इधर मेरे मित्र की दशा कुछ और ही हो रही थी; लिखित चित्र की भाँति बैठे वे एकटक ताक रहे थे; इंद्रियाँ अपना कार्य उस समय भूल गयी थीं। स्त्री ने फिर कहना आरम्भ किया -

"इस स्थान को देख मेरा चित्त बहुत दग्ध हुआ। हा! यदि ईश्वर चाहता तो किसी दिन मैं इसी गृह की स्वामिनी होती। आज ईश्वर ने मुझको उसे इस अवस्था में दिखलाया। उसके आगे किसका वश है? अनुसंधान करने पर मुझे दो कोठरियाँ मिलीं जो सर्वप्रकार से रक्षित और मनुष्य की दृष्टि से दुर्भेद्य थीं। लगभग चारों ओर मिट्टी पड़ जाने के कारण किसी को उनकी स्थिति का संदेह नहीं हो सकता था। मुझे बहुत-सी सामग्रियाँ भी इनमें प्राप्त हुईं जो मेरी तुच्छ आवश्यकता के अनुसार बहुत थीं। मुझे यह निर्जन स्थान अपने पिता के कष्टागार से प्रियतम प्रतीत हुआ। यहीं मेरे पति के बाल्यावस्था के दिन व्यतीत हुए थे। यही स्थान मुझे प्रिय है। यहीं मैं अपने दुःखमय जीवन का शेष भाग उसी करुणालय जगदीश्वर की, जिसने मुझे इस अवस्था में डाला; आराधना में बिताऊँगी। यही विचार मैंने स्थिर किया। ईश्वर को मैंने धन्यवाद दिया; जिसने ऐसा उपयुक्त स्थान मेरे लिए ढूँढ़कर निकाला। कदाचित् तुम पूछोगे कि इस अभागिनी ने अपने लिए इस प्रकार का जीवन क्यों उपयुक्त विचारा? तो उसका उत्तर है कि यह दुष्ट संसार भाँति-भाँति की वासनाओं से पूर्ण है; जो मनुष्य को उसके सत्य-पथ से विचलित कर देती हैं। दुष्ट और कुमार्गी लोगों के अत्याचार से बचा रहना भी कठिन कार्य है।"

इतना कहके वह स्त्री ठहर गयी। मेरे मित्र की ओर उसने देखा। वे कुछ मिनट तक काष्ठपुत्तलिका की भाँति बैठे रहे। अंत में एक लंबी ठंडी साँस भर के उन्होंने कहा: "ईश्वर ! यह स्वप्न है या प्रत्यक्ष?" स्त्री उनका यह भाव देख-देखकर विस्मित हो रही थी। उसने पूछा: "क्यों ! कैसा चित्त है?" मेरे मित्र ने अपने को सँभाला और उत्तर दिया: "तुम्हारी कथा का प्रभाव मेरे चित्त पर बहुत हुआ

हैं कृपा करके आगे कहो।"

स्त्री ने कहा, "मुझे अब कुछ कहना शेष नहीं है। आज पाँच वर्ष मुझे इस स्थान पर आए हुए संसार में किसी मनुष्य को आज तक यह प्रकट नहीं हुआ। यहाँ प्रेतों के भय से कोई पदार्पण नहीं करता। इससे मुझे अपने को गोपन रखने में विशेष कठिनता नहीं पड़ती। संयोगवश रात्रि में किसी की दृष्टि यदि मुझ पर पड़ी भी तो चुड़ैल के भ्रम से मेरे निकट तक आने का किसी को साहस न हुआ। यह आज प्रथम ऐसा संयोग उपस्थित हुआ है तुम्हारे साहस को मैं सराहती हूँ और प्रार्थना करती हूँ कि तुम अपने शपथ पर दृढ़ रहोगे। संसार में अब मैं प्रकट होना नहीं चाहती; प्रकट होने से मेरी बड़ी दुर्दशा होगी। मैं यहीं अपने पति के स्थान पर अपना जीवन शेष करना चाहती हूँ। इस संसार में अब मैं बहुत दिन न रहूँगी।"

मैंने देखा, मेरे मित्र का चित्त भीतर-ही-भीतर आकुल और संतप्त हो रहा था; हृदय का वेग रोककर उन्होंने प्रश्न किया, "क्यों ! तुम्हें अपने पति का कुछ स्मरण है?"

स्त्री के नेत्रों से अनर्गल वारिधारा प्रवाहित हुई। बड़ी कठिनतापूर्वक उसने उत्तर दिया, "मैं उस समय बालिका थी। विवाह के समय मैंने उन्हें देखा था। वह मूर्ति यद्यपि मेरे हृदय मंदिर में विद्यमान है; प्रचण्ड काल भी उसको वहाँ से हटाने में असमर्थ है।"

मेरे मित्र ने कहा, "देवि ! तुमने बहुत कुछ रहस्य प्रकट किया; जो कुछ शेष है उसका वर्णन कर अब मैं इस कथा की पूर्ति करता हूँ।"

स्त्री विस्मयोत्फुल्ल लोचनों से मेरे मित्र की ओर निहारने लगी। मैं भी आश्चर्य से उन्हीं की ओर देखने लगा। उन्होंने कहना आरम्भ किया -

"इस आख्यायिका में यही ज्ञात होना शेष है कि चंद्रशेखर मिश्र के पुत्र की क्या दशा हुई। चंद्रशेखर मिश्र और उनकी पत्नी क्या हुए। सुनो; नाव पर मिश्र जी ने अपने पुत्र को अपने साथ ही बैठाया। नाव पर भीड़ अधिक हो जाने के कारण वह उनसे पृथक् हो गया। उन्होंने समझा कि वह नाव ही पर है; कोई चिंता नहीं। इधर मनुष्यों की धक्का-मुक्की से वह लड़का नाव पर से नीचे जा रहा। ठीक उसी समय मल्लाह ने नाव खोल दी। उसने कई बेर अपने पिता को पुकारा; किंतु लोगों के कोलाहल में उन्हें कुछ सुनाई न दिया। नाव चली गयी। बालक वहीं खड़ा रह गया और लोग किसी प्रकार अपना-अपना प्राण लेके इधर-उधर भागे। नीचे भयानक जलप्रवाह; ऊपर अनन्त आकाश। लड़के ने एक छप्पर को बहते हुए अपनी ओर आते देखा; तुरंत वह उसी पर बैठ गया। इतने में जल का एक बहुत ऊँचा प्रबल झोंका आया। छप्पर लड़के सहित शीघ्र गति से बहने लगा। वह चुपचाप मूर्तिवत् उसी पर बैठा रहा। उसे यह ध्यान नहीं कि इस प्रकार कै दिन तक वह बहता गया। वह भय और दुविधा से संज्ञाहीन हो गया था। संयोगवश एक व्यापारी की नाव; जिस पर रूई लदी थी; पूरब की

ओर जा रही थी। नौका का स्वामी भी बजरे ही पर था। उसकी दृष्टि उस लड़के पर पड़ी। वह उसे नाव पर ले गया। लड़के की अवस्था उस समय मृतप्राय थी। अनेक यत्न के उपरांत वह होश में लाया गया। उस सज्जन ने लड़के की नाव पर बड़ी सेवा की। नौका बराबर चलती रही। बीच में कहीं न रुकी। कई दिनों के उपरांत कलकत्ते पहुँची।

"वह बंगाली सज्जन उस लड़के को अपने घर पर ले गया और उसे उसने अपने परिवार में सम्मिलित किया। बालक ने अपने माता-पिता के देखने की इच्छा प्रकट की। उसने उसे बहुत समझाया और शीघ्र अनुसंधान करने का वचन दिया। लड़का चुप हो रहा।

"इसी प्रकार कई मास व्यतीत हो गए। क्रमशः वह अपने पास के लोगों में हिल-मिल गया। बंगाली महाशय के एक पुत्र था। दोनों में भ्रातृ-स्नेह स्थापित हो गया। वह सज्जन उस लड़के के भावी हित की चेष्टा में तत्पर हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी के स्थापित किए हुए एक अँग्रेजी स्कूल में अपने पुत्र के साथ-साथ उसे भी वह शिक्षा देने लगा। क्रमशः उसे अपने घर का ध्यान कम होने लगा। वह दत्तचित्त होकर शिक्षा में अपना सारा समय देने लगा। इसी बीच कई वर्ष व्यतीत हो गए। उसके चित्त में अब अन्य प्रकार के विचारों ने निवास किया। अब पूर्व परिचित लोगों के ध्यान के लिए उसके मन में कम स्थान शेष रहा। मनुष्य का स्वभाव ही इस प्रकार का है। नौ वर्ष का समय निकल गया।

"इसी बीच में एक बड़ी चित्ताकर्षक घटना उपस्थित हुई। बंगदेशी सज्जन के उस पुत्र का विवाह हुआ। चंद्रशेखर का पुत्र भी उस समय वहाँ उपस्थित था। उसने सब देखा। दीर्घकाल की निद्रा भंग हुई। सहसा उसे ध्यान हो आया। 'मेरा भी विवाह हुआ है। अवश्य हुआ है।' उसे अपने विवाह का बारम्बार ध्यान आने लगा। अपनी पाणिग्रहीता भार्या का भी उसे स्मरण हुआ। स्वदेश में लौटने को उसका चित्त आकुल होने लगा। रात्रि-दिन इसी चिंता में व्यतीत होने लगे।

हमारे कतिपय पाठक हम पर दोषारोपण करेंगे कि 'हैं! न कभी साक्षात् हुआ। न वार्तालाप हुआ। न लंबी-लंबी कोर्टशिप हुई। यह प्रेम कैसा?' महाशय। रुष्ट न हूजिये। इस अदृष्ट प्रेम का धर्म और कर्तव्य से घनिष्ठ संबंध है। इसकी उत्पत्ति केवल सदाशय और निःस्वार्थ हृदय में ही हो सकती है। इसकी जड़ संसार के और प्रकार के प्रचलित प्रेमों से दृढतर और अधिक प्रशस्त है। आपको संतुष्ट करने को मैं इतना और कहे देता हूँ कि इंग्लैंड के भूतपूर्व प्रधानमंत्री लार्ड बेकन्सफील्ड का भी यही मत था।

"युवक का चित्त अधिक डँवाडोल होने लगा। एक दिन उसने उस देवतुल्य सज्जन पुरुष से अपने चित्त की अवस्था प्रकट की और बहुत विनय के साथ विदा माँगी। आज्ञा पाकर उसने स्वदेश की ओर यात्रा की। देश में आने पर उसे विदित हुआ कि ग्राम में अब कोई नहीं है। उसने लोगों से अपने पिता-माता के विषय में पूछताछ किया। कुछ थोड़े दिन हुए वे दोनों इस नगर में थे। और अब

वे तीर्थ-स्थानों में देशाटन कर रहे हैं। वह अपनी धर्मपत्नी के दर्शनों की अभिलाषा से सीधे काशी गया। वहाँ तुम्हारे पिता के घर का वह अनुसंधान करने लगा। बहुत दिनों के पश्चात् तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता से उसका साक्षात् हुआ, जिससे तुम्हारे संसार से सहसा लोप हो जाने की बात ज्ञात हुई। वह निराश होकर संसार में घूमने लगा।"

इतना कहकर मेरे मित्र चुप हो रहे। इधर शेष भाग सुनने को हम लोगों का चित्त ऊब रहा था; आश्चर्य से उन्हीं की ओर हम ताक रहे थे। उन्होंने फिर उस स्त्री की ओर देखकर कहा, "कदाचित् तुम पूछोगी, कि इस समय अब वह कहाँ है? यह वही अभागा मनुष्य तुम्हारे सम्मुख बैठा है।"

हम दोनों के शरीर में बिजुली-सी दौड़ गयी; वह स्त्री भूमि पर गिरने लगी; मेरे मित्र ने दौड़कर उसको सँभाला। वह किसी प्रकार उन्हीं के सहारे बैठी। कुछ क्षण के उपरांत उसने बहुत धीमे स्वर से मेरे मित्र से कहा, "अपना हाथ दिखाओ।"

उन्होंने चट अपना हाथ फैला दिया, जिस पर एक काला तिल दिखाई दिया। स्त्री कुछ काल तक उसी की ओर देखती रही; फिर मुख ढाँपकर सिर नीचा करके बैठी रही। लज्जा का प्रवेश हुआ। क्योंकि यह एक हिंदू-रमणी का उसके पति के साथ प्रथम संयोग था।

आज इतने दिनों के उपरांत मेरे मित्र का गुप्त रहस्य प्रकाशित हुआ। उस रात्रि को मैं अपने मित्र का खँडहर में अतिथि रहा। सवेरा होते ही हम सब लोग प्रसन्नचित्त नगर में आए।

(1903)